विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
मौर्ययुगीन भारत में कला का पुनरुत्थान
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 3-4
मुनि पालकाप्य और उनका हस्त्यायुर्वेद
शिवशंकर पारिजात

पृष्ठ क्र. 5-6
अर्थशास्त्र में उल्लेखित मुद्रा और उनका चलन
विजय परिहार

पृष्ठ क्र. 7
अवन्ती भूमि के ऐतिहासिक चरित्र
घनश्याम जोशी

पृष्ठ क्र. 8
वीरता का महाकाव्य चन्दबरदाई का रासो
मिथिलेश यादव

मौर्ययुगीन भारत में कला का पुनरुत्थान

मनीष रत्नपारखी

भारतीय जन-जीवन में एकता स्थापित करने और परम्परा को अटूट रूप में सुरक्षित बनाये रखने के लिए जो प्रशस्त मानवीय प्रयत्न हुए हैं, उनमें कला क महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अतीत के अनेक युगों में विभिन्न जातियों का उदय और अस्त हुआ, कुछ का इतिहास तो काल की गहराइयों में सर्वथा विलुप्त हो गया। किन्तु उनकी सभ्यताओं और संस्कृतियों के अवशेष किसी प्रकार जीवित रह गये। मौर्य युग का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि उसमें कला की पुरातन परम्परा का पुनरुत्थान हुआ। इस दृष्टि से यदि सिन्धु-सभ्यता की सांस्कृतिक उपलब्धियों और उनकी उत्तरकालीन विरासत की तुलनात्मक समीक्षा की जाय तो प्रतीत होता है कि मौर्ययुग और शुग-सातवाहनों की कला-थाती के मूल आधार, उसकी प्रेरणा के स्रोत पुरातन रहे हैं। पुरातन सिन्धु और वैदिक परम्परा से प्रेरित उत्तरकालीन कला-कृतियों में कला-मानों की तारतम्यता के परिचायक प्रमाणों का प्राय अभाव है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे परम्परागत प्राकृतिक धर्मों पर आधारित थे।

लीरिया-नन्दनगढ़ में एक ऐसी सुवर्ण-पट्टिका प्राप्त हुई है, जिस पर पृथ्वी की आकृति अंकित है और जिसे विद्वानों ने 800-700 ई.पू. की सिद्ध किया है। इस मूर्ति को सिन्धु सभ्यता और परवर्ती आर्य-परम्परानुगत रामायण-महाभारतयुगीन कला के बीच की कड़ी माना गया है। कला के इन प्रभावों की छाप मौर्य युग से कुषाण युग (400-100 ई.पू.) के बीच निर्मित सारनाथ, रामपुरवा, पटखम, पटना, भरहुत, साँची और बोधगया की भव्य एवं सम्पन्न कला-थाती पर परिलक्षित होती है। इन बौद्ध कला-केन्द्रों के निर्माता स्थपति एवं शिल्पी निश्चित ही सिन्धुवासियों की विपुल कला-विरासत से प्रभावित थे। मोहनजोदड़ो की मुहर पर अंकित बैल की छवि सारनाथ तथा रामपुरवा के अशोक स्तम्भों पर अंकित वृषभ की आकृति में रूपात्मक एकता आभासित होती है। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो की मुहर पर अंकित हाथी और अशोक निर्मित धौली चट्टान पर अकित हाथी में तथा मोहनजोदड़ो की मुहर पर अंकित सिंह और अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ के स्तूप पर उत्कीर्णित सिंह में भावात्मक साम्य दृष्टिगोचर होता है। हड़प्पा में जो प्रस्तरांकित प्रतिमाओं के अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनकी पूर्णता के दर्शन पटखम तथा पटना आदि की मौर्ययुगीन यक्ष-मूर्तियों के रूप में होती है। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो की कॉस्यमयी नर्तकी मौर्ययुगीन बौधगया की वेदिका पर अंकित यक्षणियों का आभास दिलाती है। उसकी आकृति में ही नहीं अंगों की आकर्षक भावाभिव्यक्ति में भी समानता के बहुत कुछ सूत्र निहित हैं। इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता से प्राप्त विभिन्न पशु, पक्षी, वृक्ष और मानव आदि की आकृतियों की रचना-विधि तथा उनमें दर्शित भाव इतने सहज, स्वाभाविक और जीवन्त प्रतीत होते हैं कि वे स्वय तो अपनी भव्य एवं उन्नत परम्परा को ध्वनित करते ही हैं, इसके साथ ही सुदूर भावी परम्परा के प्रेरणास्रोत भी प्रतीत होते हैं। पशु-पक्षी-प्रेमी ये दोनों युग लगभग ढाई-तीन हजार वर्षों की लम्बी दूरी के बावजूद अपनी इन उपलब्धियों के कारण कितने निकट प्रतीत होते हैं। साधनों एवं आधारों की भिन्नता होने के बावजूद दोनों युगों के कलाशिल्पियों की साधना में पर्याप्त तारतम्य देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुजनों की प्रस्तरप्रधान कला का स्थान मौर्ययुगीन काष्ठकला ने ले लिया था।

कला-निर्माण के लिए काष्ठ को साधना रूप में अपनाये जाने की परम्परा मौर्य युग से पहले ही स्थापित हो चुकी थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध ग्रन्थ ज्ञातधर्मकथा आदि प्राचीन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उस समय लकड़ी पर खुदाई की कला उन्नति पर थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और आपस्तम्ब-सूत्र आदि ग्रंथों के विवरणों से यह भी विदित होता है कि काष्ठ पर अनेक देवी-देवताओं

की बहुसंख्यक मूर्तियाँ निर्मित करने की परम्परा का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। यहाँ तक कि उन्हें आजीविका का साधन बनाया जा चुका था। इस प्रकार के देवी–देवताओं में वरुण, कुबेर, इन्द्र, रुद्र, शिव और नाग तथा अप्सराएँ प्रमुख थे। मौर्ययुग में इस प्रकार की देव–मूर्तियों को तोरणों, स्तूपों, वेदिकाओं और चौखटों पर उत्कीर्णित किया जाने लगा था।

मौर्ययुगीन कला–कृतियों में काष्ठ–मूर्तियों के अतिरिक्त पकायी गयी मिट्टी की मृण्मूर्तियों का भी प्रचलन हो गया था। सारनाथ भीटा तथा मथुरा में इस प्रकार की मौर्ययुगीन मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। इस संबंध में कदाचित्त यह दुर्लभ असंभव नहीं है जो कि प्रचलित है कि मौर्ययुगीन मृण्मूर्तियों का आधार एवं प्रेरणा स्रोत भी सिंधुयुगीन मृत्तिका कला ही थी। मौर्य युग से पूर्व यद्यपि कला के सृजन के स्रोत सर्वथा अवरुद्ध नहीं हुए थे, तब भी ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध–परम्परा में कला को कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। अशोकयुगीन कला के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तब चित्रकला की अपेक्षा स्थापत्य एवं शिल्प का अधिक विकास हुआ। अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भ एवं चौत्य तत्कालीन स्थापत्य तथा शिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण है। इनके अतिरिक्त मूर्तियों के अलकरण (प्रसाधन) के लिए हाथीदाँत, स्वर्ण, सीप, मिट्टी, काँच और पत्थर के आभूषणों को निर्मित किया जाने लगा था। उज्जयिनी और विदिशा की खुदाइयों से प्राप्त बिना साँचे की हस्तकौशल की द्योतक मूर्तियाँ मिट्टी के खिलौने, गाड़ियों के पहिये, मनुष्यों तथा पुश–पक्षियों के आकृतियुक्त मृतभाण्ड और हीरा तथा मिट्टी से अलकृत बर्तन इसके उदाहरण हैं। तत्कालीन कला के परिचायक इन अवशेषों को देखकर ज्ञात होता है कि उस युग में कला का सम्बन्ध देवलोक की अदृष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा मानवलोक की यथार्थताओं से स्थापित हो चुका था। यही कारण है कि तत्कालीन कला–कृतियों में देवताओं का एकान्तिक अंकन होने की अपेक्षा सामान्य जन–जीवन के क्रियाकलापों का अभिव्यंजन अधिकता से हुआ है। इन कला–कृतियों के अनुशीलन से यह भी विदित होता है कि तत्कालीन जन–जीवन की निष्ठाओं के अनुरूप कला में धार्मिक आस्था को भी उजागर किया गया। कलाकारों ने जन–जीवन के सुपरिचित पशु–पक्षियों के अतिरिक्त धर्म के प्रचलित दृष्टान्तों को भी कला का विषय बनाया।

अशोक के शासन काल की यह उल्लेखनीय विशेषता है कि कला पर राजसी प्रतिबन्ध समाप्त हुआ और वह सामान्य जनता के मनोरंजन का विषय बनी। इसका प्रभाव आगे की अनेक शदियों तक बना रहा। अशोक के कलानुराग के परिचायक भरहुत, साँची, बोधगया और सारनाथ के कला–केन्द्र हैं। इन धार्मिक तीर्थों का निर्माण यद्यपि तथागत के पवित्र स्मारकों के रूप में हुआ था, तथापि अपनी भव्यता और सुन्दरता के कारण वे सहज ही में कला–केन्द्रों की कोटि में गिने जाने लगे। वे भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला के इतिहास के आधार स्तम्भ हैं। उनमें अंकित पशु–पक्षी मानव और देव आकृतियों में कलात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार का साम्य है, जिनके द्वारा बुद्ध के जन्मान्तरों की कथा कही गयी है। ये कथाएँ जातकों पर आधारित हैं। सिंह, हाथी, घोड़ा, हिरन आदि पशुओं, यक्ष किन्नर अप्सराएँ आदि गन्धवों और इन्द्र, शिव, स्कन्द नाग तथा देवी आदि देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत भरहुत, साँची तथा बोधगया का कला–वैभव एक ओर तो देवलोक की दिव्यता और दूसरी ओर मानवलोक की भव्यता को अभिव्यक्त करते हुए भारत के विगत ढाई–तीन हजार वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास को जीवित बनाये हुए है। स्थापत्य और मूर्तिकला के इन दो अंगों का मौर्य युग में पर्याप्त विकास हो चुका था। इन दो कला–भेदों के अतिरिक्त जहाँ तक चित्रकला का सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग में भवनों तथा भित्तियों के अतिरिक्त वस्त्रों पर भी चित्र बनाये जाने लगे थे। पटचित्रों के निर्माण के क्षेत्र में बौद्धकला ने विशेष ख्याति अर्जित की। उसका सूत्रपात अशोक के ही समय में हो चुका था। बौद्ध पिटकों, जातकों और गाथा–विषयक ग्रन्थों के विभिन्न सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में चित्रकला को मनोरंजन का श्रेष्ठ माध्यम माना जाने लगा था। इसी उद्देश्य से अनेक शासकों ने अपने यहाँ बहुमूल्य विशाल चित्रशालाओं एवं चित्रागारों (चित्र–संग्रहालयों) की स्थापना की थी। कोशलराज प्रसेनजित् का एक ऐसा ही चित्रागार था, जिसको देखने के लिए दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी। जातक–ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि औषधि और महोत्सव नामक राजकुमारों की चित्रविद्या में इतनी अधिक अभिरुचि थी कि वे निरन्तर उसके अध्ययन–अनुशीलन में लगे रहते थे। 'थेरगाथा' में लिखा है कि राजा बिम्बिसार (543–491 ई.पू.) ने रागुन के शासक तिस्स को एक ऐसा चित्रफलक (अलबम) भेंट किया था, जिसमें बुद्ध की सम्पूर्ण जीवनी आलिखित थी।

महावंश के उल्लेखानुसार ज्येष्ठ तिष्य नामक शासक ने अपने राज्य में चित्रविद्या की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया था। अशोककालीन मूर्तिशिल्प का भव्य उदाहरण रामपुरवा से प्राप्त वृषभशीर्ष (ककुत्स्थ) है। यह भी सिंहशीर्ष की भाँति पोलिश किये गये बलुआ पत्थर पर निर्मित है। किन्तु जबकि सिंहशीर्ष भारतीय शिल्पियों की सर्वथा निजी देन है, यह वृषभशीर्ष ईरानी शिल्प तथा आकार के अनुकरण पर निर्मित भारतीयों की देन है। इस कलाकृति में ईरानी–भारतीय सामजस्य के परिचायक गुलाब तथा ताड़ आदि के अलकरण हैं। इस वृषभ फलक पर भले ही ईरानी रूप–शिल्प का प्रभाव हो, किन्तु यह निश्चित है कि ईरान के राजमहलों पर अंकित वृषभ आकृतियों की अपेक्षा इसमें अपूर्वता के साथ–साथ सजीवता भी है। उसके अंग–उपांगों में जीवन, शक्ति और सरसता है। इसके द्वारा सम्राट् का प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव के साथ–साथ साम्राज्य की सम्पन्नता तथा उत्फुल्लता का भाव भी ध्वनित होता है। भारतीय मूर्तिशिल्प की उच्चता का ध्यान तो उसके द्वारा होता ही है। भारतीय मूर्तिकला की आद्य कला–कृतियों में अशोकयुगीन सारनाथ के सिंहशीर्ष और रामपुरवा के वृषभशीर्ष के अनन्तर पटखम (मथुरा के निकट) के यक्ष का नाम उल्लेखनीय है।

मुनि पालकाप्य और उनका हस्त्यायुर्वेद

शिवशंकर पारिजात

भारतीय पशु चिकित्सा परंपरा में जिस तरह शालिहोत्र को घोड़ों का विशेषज्ञ माना जाता है, उसी तरह प्राचीन भारत के मुनि पालकाप्य नामक एक अन्य ऋषि को हाथियों का विशेषज्ञ माना जाता है। उन्होंने हाथियों के उपचार, देखभाल और प्रबंधन पर शोध किया था। उनके निबंधों को हस्त्य–आयुर्वेद या गज–आयुर्वेद के नाम से जाना गया था। भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पौराणिक, और धार्मिक जीवन में हाथियों का बड़ा महत्व रहा है। पुरातात्विक, सामरिक, यानी कि युद्ध संबंधी और सामान्य जन–जीवन में हाथियों को महत्वपूर्ण माना गया है। हाथियों को हस्ति, गज या मातंग के नामों से भी पुकारा जाता रहा है। हमारे धार्मिक–आध्यात्मिक जीवन में गज अर्थात हाथी की महत्ता इतनी है, कि हाथी आनन (मुख) होने के कारण सिद्धिविनायक गणपति 'गजानन' भी कहलाते हैं। वहीं सुख और समृद्धि की देवी के रूप में मान्य लक्ष्मी के आठ रूपों में एक रूप 'गज लक्ष्मी' का है। पौराणिक समुद्र मंथन से निकले नौ रत्नों में एक रत्न ऐरावत हाथी है, जो भगवान इन्द्र की सवारी माना जाता है। अत्यंत बलशाली और शानदार चौपाये हाथी को रिवायती रूप से शाही ठाठ–बाट का प्रतीक और राजकीय समारोहों की शोभा माना गया है।

शिकार अथवा युद्ध में जाने के लिये यह राजाओं–महाराजाओं की पसंदीदा सवारी हुआ करता था, वहीं भारी सामान को या युद्ध–सामग्री को ढ़ोने में इनका कोई मुकाबला नहीं। प्राचीन ग्रंथों में इन्हें वज्र(बिजली) की संज्ञा देते हुए कहा गया है, कि एक हाथी में छह हजार घोड़ों को परास्त करने की ताकत होती है। हाथियों के महत्व के कारण 'गरुड़ पुराण' में उनके बीमार पड़ जाने पर तुरंत स्वस्थ होने के लिये ब्राह्मणों को भोजन कराने के साथ सोने के गहने और गाय का दान करने की बात कही गई है। 'ब्रह्म पुराण' में हाथियों के इलाज करनेवाले 'गज–वैद्यों' के उल्लेख मिलते हैं।

दिलचस्प बात यह है, कि प्राचीन काल में जिस तरह से हाथियों की सजावट के सामने मानव–श्रृंगार बिल्कुल फीका था। महावत ही हाथियों की देखभाल करते थे, रोजाना पौष्टिक भोजन देते थे, उनकी मालिश करते थे, और विशेष अवसरों पर उन्हें सजाने की जिम्मेदारी भी महावतों की होती थी। उनके सिर और सूंढ पर आकर्षक रंग–बिरंगे डिजाइन बनाने के बाद दोनों बाजूओं पर घंटे लटकाये जाते थे। गले में गोलाकार पान–पत्तियाँ और तारों के आकार की बेशकीमती 'वृत्त–नक्षत्र मालिकाओं', मोतियों की माला और फूलों की लड़ियों सहित पैरों में बंधी–करधनी तथा पीठ पर सुनहरी पालकी रखकर सजाया जाता था। यही कारण है, कि हमारी प्राचीन मूर्तिकला में हाथियों की बेहतरीन मुद्राएँ देखने को मिलती हैं। क्योंकि हाथी, मनुष्य के लिए बेहद उपयोगी और महत्वपूर्ण है, इसीलिये भारत के प्राचीन चिकित्सा विज्ञान 'आयुर्वेद' में इंसानी चिकित्सा के साथ पशु चिकित्सा के अंतर्गत हाथियों का इलाज एक विशेष हिस्सा है। हाथियों की चिकित्सा संबंधी शास्त्र 'हस्त्यायुर्वेद' अर्थात हस्ति–आयुर्वेद कहलाता है। यह एक महत्वपूर्ण बात है, कि हाथियों के इलाज की इस प्राचीन पद्धति की शुरुआत अपने देश से ही हुई है। हाथियों की चिकित्सा का सबसे पुराना ग्रंथ 'हस्त्यायुर्वेद' को माना जाता है, जिसकी रचना पालकाप्य मुनि ने संस्कृत में की थी। विद्वानों के मतानुसार 'हस्त्यायुर्वेद' की रचना पुराणों (200 ई.पू. से 500 ई.पू.) से भी पहले हुई थी। अग्नि–पुराण सहित मत्स्य–पुराण और रामायण में पालकाप्य के उल्लेख मिलते हैं। के.कृष्णस्वामी (11वीं शताब्दी) ने अपने 'अमर कोश' में पालकाप्य मुनि द्वारा रचित 'हस्त्यायुर्वेद' का संदर्भ लिया है। पालकाप्य अंग जनपद (बिहार के भागलपुर जिला सहित मुंगेर क्षेत्र) की राजधानी चम्पा के निवासी थे। चार खंडों वाली 'हस्त्यायुर्वेद' एक वृहत ग्रंथ है, जिसमें 171 अध्याय और 12 हजार श्लोक हैं, जिसमें हाथियों की शरीर–रचना, शरीर क्रिया और रोग–विज्ञान, शल्य क्रिया सहित इनकी दवायें, खाना–पीना, और पालन–पोषण के बारे में विस्तृत जानकारी है। यह ग्रंथ पालकाव्य मुनि और अंग के राजा रोमपाद के बीच बातचीत के रूप में है।

ऐसे तो हाथियों की चिकित्सा के संबंध में ऋषि वृहस्पति ने 'गजलक्षण', नीलकंठ ने 'मातंग लीला' और हेमाद्रि ने 'गज दर्पण' जैसे ग्रंथों की रचना की है, लेकिन इस क्षेत्र में पालकाप्य के 'हस्त्यायुर्वेद' को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। 'अग्निपुराण' में पालकप्य को हस्ति–आयुर्वेद का प्रतिपादक कहा गया है। पालकाप्य, अंग के राजा रोमपाद के समकालीन

थे। 'रामायण' के अनुसार, रोमपाद और अयोध्या नरेश दशरथ के भी मित्र थे। प्राचीन अंगभूमि में हाथियों के बड़ी संख्या में उपलब्ध होने की चर्चा इतिहासकार एल.एन. डे ने भी की है। एल.एन.डे बताते हैं, कि सुगंधित चम्पक वृक्षों से भरी इसकी राजधानी चम्पा के अधिकांश भागों में घने जंगल हुआ करते थे, जहाँ पाये जानेवाले हाथी बड़े मशहूर थे।

चाणक्य ने भी अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में कलिंग और कुरूष के साथ अंग के हाथियों को पूरे भारत में श्रेष्ठ बताया है। 'हस्त्यायुर्वेद' के विषय–वस्तु की बात करें, तो इसमें हाथियों के उपचार संबंधी विस्तृत व्याख्या के साथ इस ग्रंथ की रचना की पृष्ठभूमि, इसके रचनाकार पालकाप्य के जन्म, पृथ्वी पर हाथियों की उत्पत्ति आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है। हस्ति–शास्त्र और भारतीय इतिहास–संस्कृति की जानकार गीथा एन. ने अपनी किताब 'एलिफेंटॉलॉजी एंड इट्स एनशिएंट संस्कृत सोर्सेज' के हस्त्यायुर्वेद (हस्ति–आयुर्वेद) शीर्षक अध्याय में इन इसकी रोचक चर्चा की है। हाथियों की उत्पत्ति के बारे में 'हस्त्यायुर्वेद' में कथा है, कि उनका जन्म श्रृष्टकर्ता ब्रह्मा की हथेलियों से तब हुआ था, जब उन्होंने अपने हाथों में ब्रह्माण्ड–पिण्ड लेकर मंत्रोच्चार किया था। पहले हाथी आसमान में उड़ सकते थे। एक बार आकाश में उड़ते समय उनकी एक भूल से क्रोधित होकर ऋषि दीर्घतपा ने उन्हें पृथ्वीलोक में जाकर मनुष्य का वाहन बनने का श्राप दे दिया। इससे चिंतित होकर दिग्गजों ने जब ब्रह्मा से कहा, कि पृथ्वी पर जाकर दूषित भोजन करने से हाथी संक्रामक बीमारियों के शिकार हो सकते हैं, तो इस पर ब्रह्मा ने आश्वासन दिया, कि पृथ्वी पर एक ऐसा ऋषि जन्म लेगा जिसका संबंध हाथियों से होगा और वह उनकी रक्षा करेगा।

इसी तरह 'हस्त्यायुर्वेद' में पालकाप्य मुनि के जन्म के बारे में भी बताया गया है, कि एक बार ब्रह्मा के वरदान से गुणावती नाम की एक सुंदर कन्या ने जन्म लिया, जो मातंग ऋषि के आश्रम में रहने लगी। लेकिन उसके अबोध होने के बावजूद इन्द्र के श्राप से वह हथिनी बन गयी। लेकिन बाद में इन्द्र के वरदान से समज्ञान नाम के एक ऋषि से पुत्र प्राप्ति होने के बाद वह इस श्राप से मुक्त हो गई। इस ग्रंथ में 'हस्त्यायुर्वेद' रचना के पीछे की कहानी में बताया गया है, कि एक बार जब हाथियों के उत्पात से अंग की राजधानी चम्पा के बाग–बगीचे और खेत–खलिहान नष्ट हो गये, तो राजा रोमपाद ने गुस्से में आकर उन हाथियों को बंदी बना लिया। जब बात की जानकारी हाथियों के संरक्षक पालकप्य को हुई, तो उन्होंने वहाँ आकर बंदी हाथियों के जख्मों का इलाज करके उन्हें दोबारा स्वस्थ बनाया।

दरअसल, राजा रोमपाद ने मुनि पालकाप्य की इस काबलियत से प्रभावित होकर पहले तो उनसे उनका परिचय जानना चाहा था। फिर उनसे अपनी प्रजा के उपयोग के लिये जंगली हाथियों को पालतू बनाने के गुर जानने चाहे थे। इसी सिलसिले में पालकाप्य मुनि और राजा रोमपाद के बीच हुई बातचीत ही 'हस्त्यायुर्वेद' ग्रंथ की रचना का आधार बन गई। हाथियों की चिकित्सा के बारे में यह ग्रंथ का आकार काफी बड़ा है, जो चार (खण्डों) और 160 अध्यायों में बंटा हुआ है। इसके पहले खण्ड का नाम 'महारोग–स्थान' है, जिसके 18 अध्यायों में बुखार, सिर संबंधी रोग, पसीना और आँख जैसी बड़ी बीमारियों के इलाज की चर्चा है, तो 'क्षुद्ररोग–स्थान' नामक दूसरे खण्ड के 72 अध्यायों में उल्टी, हृदय रोग, दंत रोग, और गारत रोग जैसी छोटी बीमारियों के निदान की चर्चा है।

इसी तरह ग्रंथ के तीसरे खंड 'शल्य–रोग स्थान' के 34 अध्याय शल्य, यानी कि सर्जरी से संबंधित हैं, जिसमें गहरे जख्मों, स्नायु रोगों आदि के उपचार की चर्चा है। जबकि चौथे खण्ड 'उत्तर रोग स्थान' के 36 अध्यायों में चिकित्सा के बाद होने वाली आवश्यक थैरेपी सहित मौसमी भोजन, विभिन्न ऋतु आदि के वर्णन हैं। इनके अलावा इस ग्रंथ में इलाज में उपयोग होने वाले, दवाओं में काम आनेवाले पौधों (मेडिसनल प्लांट्स) पर भी महत्वपूर्ण जानकारी है, जो आज के दौर में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं। हस्ति–चिकित्सा पर महारत रखनेवाले पालकाप्य मुनि ने 'हस्त्यायुर्वेद' के अलावा 'गजशास्त्र' नाम के एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की है। भारतीय धर्म और संस्कृति में हाथी का बहुत ही महत्व है।

एशियाई सभ्यताओं में हाथी बुद्धिमत्ता का प्रतीक माना जाता है और अपनी स्मरण शक्ति तथा बुद्धिमानी के लिए प्रसिद्ध है। हाथी को दुनिया के सभी धर्मों में पवित्र प्राणी माना गया है। भारत में अधिकतर मंदिरों के बाहर हाथी की प्रतीमा लगाई जाती है। वास्तु और ज्योतिष के अनुसार भारतीय घरों में भी चाँदी, पीतल और लकड़ी का हाथी रखने का प्रचलन है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन में हाथियों में ऐरावत हूँ। इसके अलावा हिंदुस्तान में प्राचीनकाल से ही राजा लोग अपनी सेना में हाथियों को शामिल करते आये हैं। प्राचीन समय में राजाओं के पास हाथियों की भी बड़ी–बड़ी सेनाएँ रहती थीं जो शत्रु के दल में घुसकर भयंकर संहार करती थीं। 'हस्त्यायुर्वेद' की तरह इस ग्रंथ में रोगों के निदान के बारे में तो नहीं, लेकिन उनके लक्षणों के साथ एनाटॉमी, फिजियोलॉजी, सहवास की विभिन्न विधियों के साथ हाथियों के अस्तबल (गजशाला) के निर्माण, हाथियों के वनों, उनके भोजन तथा उनकी संभावित मृत्यु के संकेतों पर विशेष रूप से प्रकाश डाले गये हैं। इस तरह गज–चिकित्सा के क्षेत्र में 'हस्त्यायुर्वेद' सरीखे पहले ग्रंथ की रचना कर भारत ने इस विद्या में पूरे विश्व में अपना अग्रणी स्थान बनाया है। तभी तो इतिहासकार श्रीकृष्ण जुगनू कहते हैं, कि हमारे देश में हाथियों के वर्णन करने वाले लगभग पचास ग्रंथ होंगे, जो पालकाप्य के संस्कृत गजशास्त्र से लेकर राजस्थानी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, बांग्ला, कश्मीरी, ओडिया आदि भाषाओं के अलावा इन शास्त्रों के अलावा संहिताओं में भी संकलित हैं। यहाँ तक कि 'आईन–ए–अकबरी' तक में इसके उल्लेख शामिल हैं।

अर्थशास्त्र में उल्लेखित मुद्रा और उसका चलन

विजय परिहार

मौर्यकालीन सिक्कों की जानकारी अर्थशास्त्र से प्राप्त होती है। इस समय शुद्ध चाँदी का प्रयोग नहीं होता। इसमें कुछ अंश में ताँबे और श्री मिलावट होती थी। चाँदी के वास्तविक सिक्के 'पण' कारि ही आधा, 1/4 और 1/8 (अठन्नी, चवन्नी, अन्नी) भाग का होता था। अतः पण का 1/16 एकन्नी भाग भी होता था। मौर्यकाल में बड़े सिक्कों को तोड़कर उनके टुकड़ों को छोटे सिक्कों का मूल्य दिया जा सकता था। रजत सिक्के का वजन एक कर्ष होने के कारण इसे कर्षापण भी कहते थे। मौर्यकाल एक ताँबे के सिक्के पूर्णतः व्यवहार में आ गए थे। चाँदी के सिक्कों के समान जी के सिक्कों में भी अन्य धातुओं की कुछ मिलावट होती थी। कौटिल्य इसे इक और काकिणि की संज्ञा देते है। कौटिल्य के समय सम्भवतः एक और प्रकार के सिक्के प्रचलित थे जो शीशा नामक धातु के बने होते थे इसलिए इन्हें शीशारूप कहा गया है। सिक्कों की शुद्धता और उत्तमता पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य एक ऐसे अधिकारी का वर्णन करते है जिनका कर्तव्य यही था कि पुराने सिक्कों का मृत्य निर्धारित करे और जाली सिक्कों को पहचाने। कौटिल्य ने मुद्रा की उत्तमता पर विशेष ध्यान दिया। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि सिक्कों की संख्या पर कोई विशेष राजकीय नियंत्रण नहीं था। केवल इतना ही था कि जो भी सिक्के बनें वे राजकीय टकसाल से ही निकले जिसमें राज्य को इस बात का ज्ञान रहे कि कुल सिक्के कितने प्रचलित हैं। कोई भी व्यक्ति जिसके पास कच्ची चाँदी रहती थी राजकीय सोनार के पास सिक्का बनवा सकता था। सिक्कों को बनाने का कुछ खर्च बनवानेवाले को सहना पड़ता था।

आम तौर पर सिक्के जो प्रचलित होते उन्हें व्यावहारिका कहा जाता था, लेकिन कुछ सिक्के ऐसे भी होते जो राजकीय खर्च के लिए रखे जाते थे। कौटिल्य निकी और के उत्पादन को मान्यता देते है, लेकिन सिक्के बनाने के सभी केन्द्र निरीक्षण के अधीन आ गए थे। जहाँ तक कुषाणकालीन सिक्कों के ऐतिहासिक महत्व तो है ही साथ ही प्राप्त सिक्कों से पता चलता है कि कुषाणों का क्षेत्र कहाँ तक था। ये सिक्के अन्तिम यूनानी राजा हरमियम के है। इन प हरमियस का नाम खुदा है और दूसरी ओर खरोष्ठी भाषा में कु का नाम अंकित है। ताँबे के इन सिक्कों से पता चलता है कि शासक कुजुलकडफिसोस ने अन्तिम सुनानी राजा हरमियर के साथ शासन किया। कनिंघम का विचार है कि कुजुलकडफिसीसहरमिक हरा दिया था। हरमियस के सिक्कों से पता चलता है कि ई.पू. 40 से वह काबुल का शासक था जब कि कुजुलकडफिसीस 52 ई. के आस पास के क्षेत्र का शासक था। यहाँ पाए गए छह सिक्के गोल और हाँ के ब से दो सिक्कों के मुख भाग पर दाहिनी ओर हरमियस राजा का आ अंकित है और पीछे भाग पर हेराक्लोज की मूर्ति। दो सिक्कों के मुख हरमियस राजा का आधा चित्र बना है और पृष्ठ भाग पर दूसरी मु हेराक्लोज की मूर्ति अंकित है। शेष के अग्र भाग पर भी इसी तरह के दश है और पिछले भाग पर विजया देवी की मूर्ति अंकित है। इसी प्रकार का एक सिक्का कुषाण सरदार माउरा के द्वारा चलाया गया था। कुषाण शासक कुजुल कडफिसीस के काल का चाँदी का एक सिक्का तक्षशिला से प्राप्त हुआ है जिसके मुख भाग पर इस शासक का संकेत मिलता है और पृष्ठभाग पर विजया देवीजी की मूर्ति है। ये सिक्के आहुत घाटी में बनाए गए थे। इस काल के लगभग ढाई हजार में मिले हैं। कुषाणकालीन कुछ अन्य सिक्कों के आधार कुजुलकडफिसीस का मुकुट के साथ सिर का चित्र देखने को के भाग पर यह शासक किसी अस्पष्ट वस्तु पर बैठा है। सिक्कों के जैसे ये सिक्के है। इन सिक्कों के आधार पर कि कडफिसोस प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में शासन कर रहा था। कुछ अन्य सिक्कों के मुख भाग पर बैल की आकृति है जिसके आधार पर विद्वानों का कहना है कि कुजुलकडफिसीस से अलग एक अन्य राजा जिसका नाम कुजुलकरकप था, पुष्कलावती की राजधानी छत्रप जीयोनिस पर विजय पाई थी। कनिंघम ने कुजुलकरकप को कुजुलकडफिसीस का सबसे बड़ा पुत्र और उत्तराधिकारी बताया है जिसने अपने पिता के जीवन–काल में यह सिक्का प्रचलित करवाया था। इस काल के कुछ अन्य सिक्कों के मुख्य भाग पर राजा को वस्त्रयुक्त रूप में बैठे दिखाया गया है और खरोष्ठी में कुजुलकडफिसीस (कसम) कुषणस लिखा हुआ है। ऐसे सिक्के संख्या में 78 है। कुजुलकडफिसीस प्रथम कुषाण राजवंश का संस्थापक था। 80 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हुई थी। वह बौद्ध था। उसका उत्तराधिकारी बीमकडफिसीस द्वितीय ने सोने का सिक्का सबसे पहले चलाया। कडफिसीस द्वितीय (न्त्रीमकडफिसीस) ने रोमन सिक्के की तौल 124 ग्रेन के समान सिक्के चलाए जिन पर शिव मूर्ति तथा कहीं–कहीं पर महीश्वर पदवी भी खुदी मिली है

जिसके आधार पर विद्वानों ने इस शासक को शैव मत का माना है। इस शासक के सिक्कों के अग्र भाग पर राजा को देवता के रूप में दिखाया गया है। इस काल के कुछ सिक्कों के अग्र भाग पर राजा का सिर चौकोर ढाँचों से युक्त दिखाया गया है। इसके काल के कुछ रजत सिक्के भी मिले हैं, जिनके मुख भाग पर राजा ऊँची टोपी, बटनदार नुकीला कोट, बटनवाला पाजामा पहने हुए और दाएँ हाथ में ध्वज लेकर दाहिने हाथ से वेदी पर आहुति दे रहा है। इस काल के ताम्र सिक्के तीन आकार–लम्बे, मध्य और छोटे आकार के हैं। लम्बे आकार के सिक्के 270 ग्रेन के हैं। 128 ग्रेन के मध्य आकार के सिक्के मिले हैं। छोटे आकार अर्थात् तीसरे प्रकार के सिक्कों का वजन 60 ग्रेन है।

इन सिक्कों से पता चलता है कि विमकडफिसीस शैव धर्म का उपासक था। इसने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों को चलाया। कुछ अन्य सिक्के पंजाब, कान्धार और काबुल की घाटी में मिले हैं जिनसे कुषाण साम्राज्य विस्तार की जानकारी तो होती है लेकिन राजा का नाम नहीं। इन सिक्कों पर अश्वारोही के चिह्न बने हैं और यूनानी तथा खरोष्ठी में कुछ लिखा हुआ है। बिना नाम के कुछ अन्य ताम्र सिक्के मिले हैं जिनके पृष्ठ भाग पर राजा मुकुट धारण किए घोड़े पर बैठा है। शक संवत् (78 ई.) को चलानेवाला कनिष्क कुषाणकाल का सबसे प्रतापी और प्रसिद्ध शासक माना गया है। इसके काल के बड़े पैमाने पर स्वर्ण सिक्के पाए गए हैं जिनके अग्र भाग पर सिरस्त्राण, मुकुट, ईरानी ढंग का लम्बा कोट, पाजामा, टोपी और जूता पहने हुए राजा बायी ओर खड़ा है और दाहिने मूर्ति, बायें हाथ में भाला पकड़े हुए है। ग्रीक भाषा में इन सिक्कों पर कनिष्क का नाम खुदा है। इस काल के सिक्कों को विद्वानों ने सलेने, मनोबगो, मओ, हिफेस्टस, अवासो, अरदोक्षो लुहस्प, बोछो, माओ, महिरि, नन, ओइशो, ओरलग्नो, फरों, मजदहनों कहा है। इस शासक के ताप्न सिक्के पंजाब, उत्तर प्रदेश और कुछ विहार में मिले हैं जो रोमन सिक्कों के बराबर हैं।

इन सिक्कों का प्रयोग स्थानीय व्यापार के लिए होता था। ताँबे के इन सिक्कों पर स्वर्ण सिक्कों के समान चिह्न बने हुए हैं। कनिष्क के उत्तराधिकारी हुविष्क ने चौरी, सोना और के चलाए जिन पर ईरानी पत्नी सहित राजा का नाम मुख भाग पर और पृष् पर विभिन्न देवताओं को आकृतियाँ खुदी हैं। दुविष्क के रजत सिक्के 32 देर के हैं। हुविष्क के बाद कुषाण वंश का शासक वासुदेव था जिसके काल के गोल सिक्कों पर पाए गए चित्रों से पता चलता है कि ईरानी देवी–देवताओं और बौद्ध धर्म का पतन हो गया था। इसके साथ ही शैव धर्म की प्रमुखता पालो थी। वासुदेव के सिक्के सोने और ताँबे के बने हैं जिनका वजन कनिष्क और हुविष्क के समान है जो पंजाब और उत्तरी पश्चिम भारत में पाए गए है। स्वयं सिक्के पेशावर में मिले हैं। वासुदेव के बाद कुषाण साम्राज्य कई भागों में बंट गया। वासुदेव के बाद कुछ वैसे सिक्के पाए गए हैं जिन पर कनिष्क और वासुदेव दोनों के नाम अंकित हैं। इस आधार पर कहा जाता है कि ये सिक्के वासुदेव द्वितीय, कनिष्क तृतीय तथा वासुदेव तृतीय के होंगे, जिन्होंने अफगानिस्तान, सीस्तान अथवा भारत के उत्तर–पश्चिम भाग में नाममात्र का शासन किया था। इन राजाओं को प्रामाणिकता लेखों तथा सिक्कों से सिद्ध होती है। सीस्तान, पंजाब तथा अफगानिस्तान में एक प्रकार के सिक्के मिले हैं जिन पर राजा के बायीं ओर ब्राह्मी अक्षरों में 'वसु' लिखा है। इसके अतिरिक्त दोनों पैरों के बीच कुछ ब्राह्मी अक्षर दिखाई पड़ते हैं। मुद्राशास्त्र–विज्ञ इन सिक्कों को द्वितीय वासुदेव का मानते हैं जो वासुदेव प्रथम के बाद शासक हुआ। विद्वानों का अनुमान है कि द्वितीय वासुदेव ने द्वितीय कनिष्क की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

आरा अभिलेख से विदित होता है कि कनिष्क द्वितीय वासिष्क का पुत्र था जो कनिष्क संवत् 41 वर्ष में शासन कर रहा था। इस राजा के सिक्के बहुलता से मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि कनिष्क द्वितीय का राज्य अधिक समय तक रहा। कश्मीर से सीस्तान के विस्तृत क्षेत्र में इसके सिक्के मिले हैं। डेढ़ इंच आकार में स्वर्ण सिक्का कनिष्क तृतीय का मिला है जिसके अग्र भाग पर सजे सजाये ढंग से राजा खड़ा है। इसके अलावा बाद के अनेक छोटे–छोटे कुषाण शासकों के काल के सिक्के मिले हैं। इस काल के स्वर्ण सिक्के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में प्रयोग किए गए। कुषाण मुद्राओं से ऐतिहासिक तिथियाँ निर्धारित करने में सुविधा मिलती है। धार्मिक दृष्टिकोण से पता चलता है कि विदेशियों ने भारतीय धर्म और संस्कृति को स्वीकारा। इस काल में धार्मिक इतिहास को व्यक्त करने के रूप में कनिष्क तथा हविष्क के सिक्कों का पर्याप्त महत्त्व है। इसमें उल्लेखनीय चयनात्मकता लक्षित होती है। क्योंकि इनके पृष्ठ भाग पर यूनानी तथा शुकदेवता, अतस्ता तथा वेद का देवता और बुद्ध के चित्र हैं। हुविष्क ने कार्तितकेय की मुद्राओं को विभिन्न नामों से अंकित करवाया।

जिन–जिन उपलब्धियों के कारण गुप्त काल, भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग (वैसे इस काल को स्वर्ण युग कहना उचित नहीं है) माना जाता रहा है, उनमें से एक उपलब्धि है सिक्का। मुद्रा का प्रचलन गुप्तकाल में चन्द्रगुप्त ने किया। इसके काल के सिक्के मथुरा, टाँडा, गाजीपुर, अयोध्या, बनारस तथा भरतपुर स्टेट के बयाना फोर्ड में मिले हैं। सिक्कों का वजन 120 ग्रेन है। मिलावट की मात्रा भी बाद के गुप्त शासकों की तुलना में कम है। चन्द्रगुप्तकालीन सिक्कों के अग्रभाग में राजा–रानी आमने–सामने खड़े हैं। दोनों मूल्यवान वस्त्रों तथा आभूषणों से सजे हैं। राजा के बायें हाथ में ध्वज है और दाहिने हाथ से रानी को कुछ भेंट कर रहा प्रतीक हो रहा है। यह उपहार किसी मुद्रा में अँगूठी, किसी में सिन्दूरदानी और किसी में अन्य आभूषण के रूप में है। रानी का दाहिना हाथ कमर पर और बायाँ नीचे लटका है। मुद्रा पर बायीं ओर चन्द्रगुप्त और दायीं ओर श्रीकुमार देवी या कुमार देवीश्री लिखा हुआ है। पीछे के भाग में दुर्गा की आकृति है। अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने इस मूर्ति को दुर्गा नहीं माना है। सी. शिवराम मूर्ति ने इसे लक्ष्मी कहा है।

अवन्ती भूमि के ऐतिहासिक चरित्र

घनश्याम जोशी

उज्जैन का सर्वप्राचीन नाम अवन्ती रहा जो किसी न किसी रूप में आज तक प्रचलित है। अवन्ती शब्द राजा, अच्छी आबादी वाले क्षेत्र तथा पृथ्वी के अर्थ में प्रयुक्त है। अवन्ती शब्द स्त्रीलिंग में होने पर अवन्तिराज की पत्नी और स्त्री संतति के लिए प्रयुक्त होता है। माहिष्मती अथवा महेश्वर के राजा हैहय कार्तवीर्यर्जुन के पुत्र अवन्ती के नाम पर इस जनपद और नगरी का नाम अवन्ति अथवा अवन्ती प्रसिद्ध हुआ। इसे अवन्तिका, अवन्तिपुरी, अवन्तिनगरी अथवा अवंतिकापुर आदि नामों से भी पुकारा गया। यही नगरी बाद में उज्जयिनी नाम से प्रसिद्ध हुई। महाकाल की भूमि होने से यह महाकाल नगरी भी कहलाती रही। देवभूमि होने से अमरावती भी इसका नाम रहा।

सम्राट् अशोक के पुत्र कुणाल के नाम पर इसे कुणाल नगरी भी कहा गया। उज्जैन और अवन्ती क्षेत्र अपने पौराणिक तथा ऐतिहसिक विभिन्न चरित्रों के कारण प्रसिद्ध है। स्कन्दपुराण का अवन्तिखण्ड ऐसी विभिन्न कथाओं तथा चरित्रों का भंडार है जो उज्जैन से सम्बद्ध रहे। अन्य पुराणों में भी उज्जयिनी का विभिन्न संदर्भों में बार–बार स्मरण किया गया। महर्षि सान्दीपनि अवन्ती के सर्वप्राचीन महापुरूष हैं जिन्होंने इस क्षेत्र का जलाभाव तथा अकाल दूर करने के लिए महाकाल की घोर तपस्या की एवं इस क्षेत्र के सदा सुकाल का वरदान प्राप्त किया। इन्ही सान्दीपनि के आश्रम में रहकर श्रीकृष्ण बलराम, सुदामा तथा बजलाभ (अनिरुद्ध का पुत्र एवं श्रीकृष्ण का प्रपौत्र) ने विद्यार्जन किया। वह आश्रम आज भी अकपात क्षेत्र में विद्यमान है। श्रीकृष्ण के समय अवन्ती के राजा विन्द और अनुविन्द थे जो महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से लड़े थे। क्योंकि श्रीकृष्ण ने उनकी बहन विन्दा का अपहरण कर लिया था, जो उनकी आठ पटरानियों में से एक थी। इन्हीं विन्द और अनुविन्द का हाथी अश्वत्थामा था जिसकी हत्या की घोषणा के छल से द्रोणाचार्य का वध हो गया था।

वीतिहोत्र वंश के अंतिम राजा की हत्या करके पणिक ने अपने पुत्र प्रद्योत को अवन्तिका का राजा बनाया। वह क्रोधी होने से चण्ड एवं विशाल सेना का स्वामी होने से महासेन कहलाता था। इसकी राज्य सीमा वत्स से मिलती थी। वहाँ के राजा उदयन को प्रद्योत ने उज्जैन के कारागार में रखा जहाँ से वह प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता का अपहरण कर ले गया। इस घटना को साहित्यकारों ने काव्यों, कथाओं तथा नाटकों में अमर कर दिया। कलाकारों ने इस घटना की मिट्टी के ठीकरों और गुफाओं की दीवारों पर अंकित कर दिया। इसी प्रद्योत के समय उज्जैन में महावैदिक महाकच्चान था जो महात्मा बुद्ध को आमंत्रित करने गया था। परन्तु स्वयं बौद्ध होकर लौटा। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय अवन्ती क्षेत्र का प्रशासक उसका पुत्र बिन्दुसार था और बिन्दुसार जब सम्राट् था तब अशोक यहाँ का प्रशासक था। इसके पुत्र कुणाल के कारण उज्जैन को कुणाल नगरी भी कहते थे। इसी अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने उज्जैन से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। कात्यायन, व्याडि आदि यहाँ के विद्वान वैयाकरण एवं रसायनवेत्ता थे। मालवा की यात्रा में बिन्दुसार अपने साथ एक सुन्दर स्त्री को भी ले गया था। इसका पुत्र अभय था। अतः यह बौद्ध साहित्य में अभयमाता के नाम से विख्यात हुई। उज्जैन की ही एक श्रेष्ठी कन्या ऐसी दासी थी जो बौद्धधर्म में दीक्षित हुई थी और जिसकी गाथाएँ बड़ी मनहर हैं। पूर्वोक्त सम्राट् प्रद्योत का एक भाई कुमार सेन महाकाल मंदिर के सामने दुराचारियों, मानव भक्षियों वेतालजंघ वेताल दल द्वारा मार डाला गया था। इसके अन्य पुत्र पालक के समय ही उज्जैन में सार्थवाह चारुदत्त और गणिका वसंतसेना की जो लोकप्रिय कथा तैयार हुई थी उसे उज्जैन के राजा शूद्रक ने अपने विश्वप्रसिद्ध रूपक मृच्छकटिक में प्रस्तुत कर दिया। इसी शूद्रक के एक भाण पद्मप्नामृतक में तत्कालीन उज्जयिनी का सजीव वर्णन प्राप्त होता है। ऐसा ही जीवंत वर्णन एक अन्य भाण श्यामिलक के पादताडितक में मिलता है। इस शूद्रक पर प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थ लिखे गये जो अब नहीं मिलते। विक्रमादित्य उज्जैन का वह राजा था जिसकी कथाएँ जन–जन में व्याप्त हैं। वह साहित्य का लोकप्रिय नायक बन गया। उसने शकों को पराजित कर विक्रम सम्वत् चलाया जो आज तक प्रचलित है। उसकी सभा में नवरत्न थे– धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेताल, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि। इनमें से प्रत्येक अपने–अपने विषय में निष्णात पंडित और विख्यात आदर्श ग्रन्थकार थे। वररुचि के काव्य पढ़कर लोग कवि बन जाते थे। इसी विक्रम की सभा में मणि, अंगुदत्त, जिष्णु, त्रिलोचन, हरि इत्यादि कवि थे और सत्य वराहमिहिर, श्रुतसेन, बादरायण, माणित्थ, कुमारसिंह इत्यादि ज्योतिर्विद थे। सिंहासन बत्तीसी में इसी विक्रमादित्य की गाथा वर्णित है। इसने संस्कृत को जनभाषा बनाया। विक्रमादित्य संबंधी पुरातात्विक प्रचुर सामग्री सुलभ है। इसके गुणों से आकर्षित होकर बाद के कितने ही राजा विक्रमादित्य उपाधि ग्रहण करते रहे।

रुद्रदामा उज्जैन का वह शक राजा था जिसने प्रथम बार शिलालेख संस्कृत में लिखवाया। विक्रम के समय सातवाहन राजा हाल की गाहासत्तसई रसिकों का कण्ठहार बन गयी। गुणाढ्य जिसने अपनी जगत् प्रसिद्ध वृहत्कथा से उज्जैन को व्यापक कर दिया। आदित्यदास, वराहमिहिर और षष्ठिदत्त कायथा उज्जैन के ज्योतिषी थे जिनकी कृतियाँ आदर्श बन गई। इसी समय यहाँ परमार्थ नामक विद्वान हुआ जिसने चीन में रहते हुए 64 संस्कृत ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

वीरता का महाकाव्य चन्दबरदाई का रासो

"पृथ्वीराज रासो" हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। यह वीर रस का हिंदी का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। जिसमें सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के जीवन और चरित्र का वर्णन किया गया है। इसके रचयिता चन्दबरदाई पृथ्वीराज के बचपन के मित्र और उनके राजकवि थे और उनकी युद्ध यात्राओं के समय वीर रस की कविताओं से सेना को प्रोत्साहित भी करते थे। चन्दबरदाई जिन्हें चन्द्र भट्ट के नाम से भी जाना जाता है चन्दबरदाई ने अपनी बही (इतिहास लेखन) में पृथ्वीराज तृतीय (राय पिथौरा) के जीवन का इतिहास संयोजित किया है पृथ्वीराज चौहान का राज्य अजमेर से दिल्ली तक फैला हुआ था। राजकवि और सहयोगी हो गए थे। इससे उसका अधिकांश जीवन महाराजा पृथ्वीराज चौहान के साथ दिल्ली में बीता था। वह राजधानी और युद्ध क्षेत्र सब जगह पृथ्वीराज के साथ रहे थे।

हिंदी साहित्य में वीर चरित्रों की जैसी विशद कल्पना इस काव्य में मिली वैसी बाद में कभी नहीं दिखाई पड़ी। कन्नौज युद्ध के पूर्व संयोगिता के अनुराग और विरह तथा उक्त युद्ध के अनन्तर पृथ्वीराज संयोगिता के मिलन के जो चित्र रचना में मिलते हैं, वे अत्यन्त आकर्षक हैं। अन्य रसों का भी इस महाकाव्य में अभाव नहीं है। रचना का वर्णनवैभव असाधारण है। नायक–नायिका के संभोग समय का षड्ऋतु वर्णन कहीं–कहीं पर संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाषाशैली सर्वत्र प्रभावपूर्ण है और वर्ण्य विषय के अनुरूप बदलती रहती है।

पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है, जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छन्दों का इसमें व्यवहार हुआ है। मुख्य छन्द हैं – कवित्त (छप्पय), दूहा (दोहा), तोमर गोत्र ,त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादम्बरी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण भट्ट राव के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही पृथ्वीराज रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हण भट्ट राव द्वारा पूर्ण किया गया है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों के उपरान्त चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ में रासो को सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है – पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज। रघुनाथनचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि। पृथिराजसुजस कवि चंद कृत चंदनंद उद्धरिय तिमिघ् जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं को लेकर लिखा गया

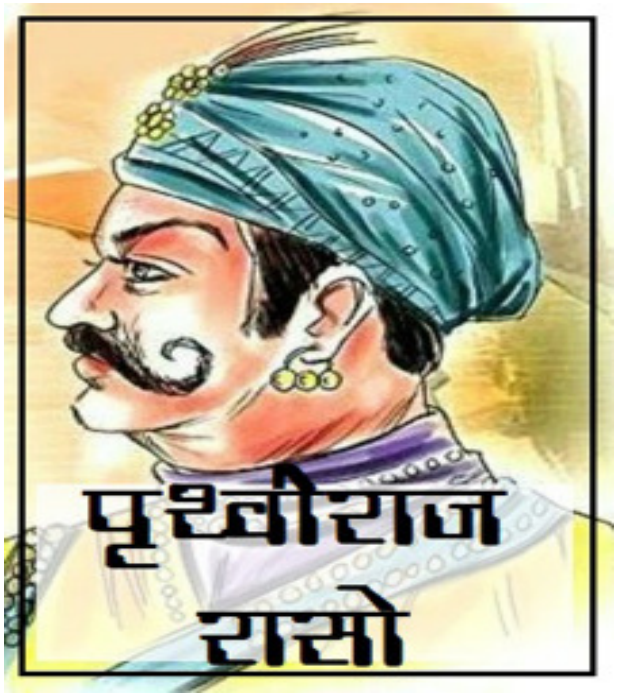

हिंदी का एक ग्रंथ जो चंदबरदाई राव का लिखा माना जाता रहा है। पहले इस काव्य के एक ही रूप से हिंदी जगत परिचित था, जो संयोग से रचना का सबसे अधिक विशाल रूप था, इसमें लगभग ग्यारह हजार रूपक आते थे। उसके बाद रचना का एक उससे छोटा रूप कुछ प्रतियों में मिला, जिसमें लगभग साढ़े तीन हजार रूपक थे। महाकाव्य होते हुए भी पृथ्वीराज रासो में प्रबन्ध–निर्वाह का अभाव है। यह भारतीय जीवन की झाँकी नहीं प्रस्तुत कर पाता। इसकी कथा कहीं–कहीं चंद और उसकी पत्नी के बाद–विवाद के रूप में तथा कहीं शुक–शुकी के संवाद के रूप में चलती है। इस ग्रन्थ में शृंगार तथा वीर रस की प्रधानता है। शृंगार के हाव–भाव को प्रकृति के उद्दीपन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। युद्ध क्षेत्र का वर्णन बड़े ही कौशल के साथ किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी अधिक हुआ है। नाना प्रकार की भाषाएँ इस ग्रन्थ में मिलती हैं। बहुत से शब्द तो ऐसे मिलते है जो उस समय के लिखे ही नहीं जान पड़ते। कुछ विद्वान इसके शुक–शुकी–संवाद को ही ग्रन्थ का मूल समझते हैं, शेष को अप्रमाणिक। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे अध्प्रिमाणिक रचना माना है। उन्होंने कहा था कि– "रासो का काव्य रूप दसवीं शताब्दी के साहित्य के काव्य रूप से समानता रखता है। इसकी संवाद परवृति और रासो प्रवृति कीर्तिलता से साम्य रखती है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com